अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

चार व्रत

ऋचं॑ वाचं॑ प्रप॑द्ये॒ मनो॒ यजुः॑ प्रप॑द्ये॒ साम॑ प्रा॒णं प्रप॑द्ये॒ चक्षुः॑ श्रोत्रं॑ प्रप॑द्ये।
वागोजः॑ स॒हौजो॒ मयि॑ प्राणापा॒नौ॥१॥

१. **वाचम्**=वाणी का आश्रय करके **ऋचम्**=ऋचाओं की, ऋग्वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ। वाणी को ऋग्वेद के अर्पित करता हूँ। ऋग्वेद का स्वरूप 'मण्डल' व 'सूक्त' हैं। (क) मैं अपनी वाणी को शुभ ज्ञान से मण्डित करता हूँ और (ख) वाणी से सूक्तों को ही बोलता हूँ। यदि हम यह व्रत लेते हैं तो **वाग् ओजः**=वाणी का बल प्राप्त होता है। २. **मनः**=मन का आश्रय करके **यजुः**=यजुर्वेद की शरण में **प्रपद्ये**=जाता हूँ, अर्थात् मन को यज्ञों के प्रति अर्पित करता हूँ। मन को वश में करने का उपाय इसे यज्ञों में लगाये रखना ही है। यज्ञों में लगा हुआ मन वासनाओं में नहीं फँसता। यजुर्वेद अध्यायात्मक है। इसे सदा स्वाध्याय में लगाये रखना चाहिए। स्व-अध्याय=अपना अध्ययन करना नकि औरों की मीन-मेख निकालते रहना। ऐसा करने पर मनुष्य को अपने पर गर्व नहीं होता तथा औरों से घृणा नहीं होती। परस्पर प्रेम बढ़कर **सह ओजः**=एकता का बल बढ़ता है। परस्पर एक होकर हम शक्तिशाली हो जाते हैं। ३. **प्राणम्**=मैं अपने प्राण, जीवन का आश्रय करके **साम**=सामवेद, उपासना वेद की **प्रपद्ये**=शरण में जाता हूँ, जीवन को उपासनामय बना देता हूँ। मैं सदा प्रभु का स्मरण करता हूँ और कार्यों में लगा रहता हूँ। इस प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्य करने से जहाँ मेरे कार्य पवित्र होते हैं वहाँ मैं शक्ति का अनुभव करता हूँ। प्रभुशक्ति मुझमें प्रवाहित होती है और **मयि प्राणः**=मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार हो जाता है। ४. **श्रोत्रम्**=कान का आश्रय करके **चक्षुः**=ज्ञान अथवा ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) की शरण में जाता हूँ। अथर्ववेद हमारे दृष्टिकोण को ठीक करता है, अतः उसका नाम ही 'चक्षुः' हो गया है। श्रोत्र से इसकी शरण में जाना, अर्थात् सदा ज्ञान-श्रवण में लगे रहना ही चौथा व्रत है। इस व्रत के धारण से **मयि अपानः**=मुझमें अपान, अर्थात् दोषों को दूर करने की शक्ति होगी। ज्ञान ही दोषों का निराकरण करके जीवन को पवित्र बनानेवाला है। इन चार व्रतों का सदा ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' है, अपने व्रतों पर स्थिर रहने से यह 'आथर्वण' है। यह 'दध्यङ् आथर्वण' निश्चल होकर प्रभु का ध्यान भी इसीलिए करता है कि इन व्रतों का पालन कर पाये।

भावार्थ—हमारे जीवन के चार व्रत हों १. वाणी को ज्ञानप्राप्ति में लगाये रखकर इससे मधुर शब्द ही बोलेंगे २. मन को सदा उत्तम कर्मों में लगाये रखकर कभी पराये दोषों को देखने में न लगाएँगे। ३. जीवन में प्रभु को कभी विस्मृत न करेंगे। ४. श्रोत्र से सदा ज्ञान का श्रवण करेंगे।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**बृहस्पतिः**। छन्दः—**निचृत्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

दोषदहन—शान्तिप्राप्ति

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥२॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **चक्षुषः**=आँख का, **हृदयस्य**=हृदय का **मनसो वा**=या मन का **अतितृण्णम्**=बहुत फटा हुआ (बहुत त्रुटियुक्त) **छिद्रम्**=दोष है, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे **तत्**=उस छेद को **दधातु**=भर दे। मेरे उस दोष को दूर करदे। 'मेरे दोष को दूर कर दे' इस प्रार्थना में कुछ स्वार्थ-सा लगता है, सभी के दोष क्यों दूर न हों—मेरे ही क्यों? परन्तु वस्तुतः यहाँ स्वार्थ नहीं है, हम दूसरों के दोषों की कल्पना ही क्यों करें। हमें तो अपने ही दोष देखने हैं। इन दोषों के दूर हो जाने पर जो कल्याण व शान्ति होगी उसकी प्राप्ति में स्वार्थ न होना चाहिए, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **भुवनस्य**=सारे संसार का **यः पतिः**=जो पालक है, वह प्रभु **नः**=हमें **शम् भवतु**=शान्ति व कल्याण का देनेवाला हो। २. पूर्वार्ध व उत्तरार्ध को मिलाकर देखा जाए तो कार्य-कारण के सिद्धान्त से स्पष्ट करते हैं कि (क) दोषों के दूर होने पर ही शान्ति होगी। (ख) दोष अपने-अपने दूर करो तभी सबका कल्याण हो सकेगा। औरों के दोष दूर करने पर ध्यान दिया तो परिणाम में अशान्ति-ही-अशान्ति होगी। वेद का यही तो सौन्दर्य है कि 'दोष अपने दूर करो, कल्याण सबका चाहो।' ३. दोष भी किसका 'आँख का, हृदय का व मन का।' यहाँ शरीर के व्याधिरूप दोष का उल्लेख नहीं हैं। (क) उसे तो एक सामान्य चिकित्सक भी दूर कर सकता है, (ख) आँख आदि का दोष न होने पर शरीर का दोष तो होगा ही नहीं। प्रभु हमारे आँख के दोष को दूर करें, मेरा दृष्टिकोण ठीक हो। ४. हृदय का दोष श्रद्धा का न होना व ग़लत श्रद्धा का होना है। श्रद्धा न होने पर तो जीवन बन ही नहीं सकता। **'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'** जैसी श्रद्धा होती है वैसे ही हम बनते हैं। इस श्रद्धा का ठीक होना भी आवश्यक है। अन्धश्रद्धा से जीवन भी कुछ अन्ध-सा हो जाता है। ५. तीसरा मन का दोष है। यह मन अत्यन्त प्रबल है और बहकाकर प्रभु की आज्ञा तुड़वाता रहता है। इसको काबू करना अत्यन्त आवश्यक है। काबू हुआ-हुआ यह हमारे मोक्ष का कारण बनता है, और बेकाबू बन्ध का कारण होता है, अतः मन को निर्दोष रखने के लिए इसे कार्यों में लगाये रखना तथा प्रभु का चिन्तन करना ही साधन है। बुद्धि ही मनीषा है, मन की शासिका है। ६. हमारे सारे दोष दूर करेंगे बृहस्पति, ज्ञान के स्वामी प्रभु। दूसरे शब्दों में ज्ञान से ही दोषों का विनाश होगा, अतः हम निरन्तर ज्ञानवृद्धि में लगे रहें।

भावार्थ—हम सब अपने-अपने दोषों को दूर करने का ध्यान करें। यही सबके कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**दैवीबृहती**[क], **निचृद्गायत्री**[ख]।
स्वरः—**मध्यम**[क], **षड्जः**[ख]॥

नव-जीवन

[क]भूर्भुवः स्वः। [ख]तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३॥

१. 'मानव-जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए' इसका निर्देश प्रभु ने इन तीन महाव्याहृतियों द्वारा किया है (क) **भूः**=(भू सत्तायाम् to be)=स्वास्थ्य, होना अर्थात्

'स्वस्थ' होना। 'अपने में स्थित न होना', यह बात न हो, अर्थात् 'अस्वस्थ' न हों। (ख) **भुवः**=ज्ञान (भुवो अवकल्कने, अवकल्कनम्=चिन्तनम्) ज्ञानी बनें। (ग) **स्वः**=स्वयं राजमानता, अपरतन्त्रता, अर्थात् जितेन्द्रियता। एवं, इन तीन शब्दों में मनुष्य जीवन का ध्येय इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि 'शरीर के दृष्टिकोण से स्वस्थ बनो, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ज्ञानी बनो तथा आत्मिक दृष्टिकोण से जितेन्द्रिय बनो। इन्द्र वही है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो। २. उल्लिखित ध्येय को प्राप्त करने के लिए हम सदा इस बात का ध्यान करें कि 'प्रभु के तेज को प्राप्त करना' ही हमारी रट हो, यही हमारा जप हो। इस तेज को प्राप्त करने के लिए मुझे अपना जीवन अधिकाधिक सुन्दर बनाना होगा, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **तत् सवितुः**=(तनु विस्तारे–तत्) उस विस्तृत, अनन्त विस्तारवाले सर्वव्यापक प्रभु के **देवस्य**=दिव्य गुणों के पुञ्ज परमात्मा के **वरेण्यम्**=वरने के योग्य श्रेष्ठ **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करें, उसे ही अपनी आँखों के सामने रक्खें और धारण करने का प्रयत्न करें। किस प्रभु को? उस प्रभु को **यः**=जो **नः**=हमारी **धियः**=बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। जिस व्यक्ति ने प्रभु के तेज को धरण करने का ही जप किया वह व्यक्ति सदा हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। ३. यह प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति सभी का मित्र होता है, यह 'विश्वामित्र' होता है। जिसका ध्यान प्रभु की ओर जाता है, वह सब-में प्रभु को देखता है। ४. यह मन्त्र वेदों का सारभूत मन्त्र समझा जाता है। प्रसिद्धि तो यह है कि ब्रह्मा ने वेदों का दोहन किया। ऋचाओं के दोहन से 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इस चरण का दोहन हुआ, यजुः मन्त्रों के दोहन का परिणाम 'भर्गो देवस्य धीमहि' है तथा साम-मन्त्रों का सार 'धियो यो नः प्रचोदयात्' निकाला।

नोट–गायत्री मन्त्र वस्तुतः तीन प्रश्नों का उत्तर है–'क्या, क्यों, कैसे'?

प्रश्न : क्या करें? **उत्तर** : प्रभु के तेज का ही नित्य ध्यान करें।

प्रश्न : क्यों करें? **उत्तर** : देवस्य=देव और सवितु=सविता=ऐश्वर्यशाली बनने के लिए, वास्तविक ऐश्वर्य को पाने के लिए।

प्रश्न : कैसे करें? **उत्तर** : उस प्रभु से दी जा रही प्रेरणा को सुनें।

भावार्थ–हम प्रभु के तेज को अपने जीवन में धारण करें, जिससे प्रभु हमारी बुद्धियों को प्रेरित करते रहें।

ऋषिः–**वामदेवः**। देवता–**इन्द्रः**। छन्दः–**गायत्री**। स्वरः–**षड्जः**॥

वह सदा का साथी

कया नश्चित्रऽआभुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥४॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत हूँ, तब मुझे भय किस बात का? यह अभय प्राप्त उसी को होता है जो इस कल्याणमय रक्षण का अनुभव करता है। २. प्रभु **सदावृधः**=सदा जीव को बढ़ानेवाले हैं। 'फिर भी जीव क्यों नहीं बढ़ पाता?' इसका कारण यह है कि यह क्रोधादि से सड़ता रहता है। प्रभु तो हमें सदा बढ़ा रहे हैं, परन्तु ये द्वेष, घृणा व असन्तोष हमें पनपने नहीं देते। २. वे **सखा**=सदा साथ रहनेवाले हैं, परन्तु मुझे इस बात का ध्यान नहीं, अतः अपने को अकेला समझ घबरा जाता हूँ। ४. वे प्रभु **चित्रः**=ज्ञान देनेवाले हैं, ज्ञान देकर ही वे सब वस्तुओं को हमारे लिए कल्याणकर बना रहे हैं। ५. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर

शचिष्ठया=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं (नः आभुवत्)। यह ऋतुओं का चक्र व दिन-रात का चक्र और इसी प्रकार अन्य सब चक्र हमारी शक्ति को बढ़ाने के लिए आवश्यक हैं। ६. इसलिए हमें यही चाहिए कि इस प्रभु के कल्याणमय आवर्तन से अपने शरीरों को सबल बनाते हुए उस प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करते हुए निर्भीक बनें। उस प्रभु की ज्ञानमयी रक्षा में दुर्गुणों से बचते हुए हम दिव्य गुणों का सदा अपने में समन्वय करें।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ, जो प्रभु अत्यन्त शक्तिप्रद आवर्तन से मेरी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

त्रिपुर-दहन व देव-मन्दिर-निर्माण

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां मꣳहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः । दृ॒ढा चि॑दारु॒जे॒ वसु॑॥५॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता (मंहतेर्दानकर्मणः) प्रभु **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढाचित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**=छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. वे प्रभु आनन्दमय हैं। जीव आनन्द की उपलब्धि प्रभु के सम्पर्क में ही कर पाएगा, क्योंकि प्रकृति में स्वयं आनन्द नहीं, वह हमें कहाँ से आनन्द दे पाएगी। २. वे प्रभु सत्यस्वरूप हैं। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। जीव के व्यवहार में कुछ-न-कुछ असत्य आ ही जाता है, अतः हममें परस्पर कमियों के लिए उपेक्षावृत्ति को अपनाने की क्षमता होनी ही चाहिए, औरों के दोष ही देखते रहने की वृत्ति से दूर ही रहना चाहिए। ४. प्रभु आनन्द देनेवाले हैं। हम पञ्चकोशों में रहते हैं और पञ्चकोशों में आनन्द उत्तरोत्तर अधिक-और-अधिक सुन्दर हैं। स्वास्थ्य का भी एक आनन्द है तो प्राणसाधना का आनन्द उससे अधिक है। शुद्ध मन के आनन्द की तुलना में वह भी अल्प हो जाता है तो विज्ञान का आनन्द मानस आनन्द को भी अभिभूत कर लेता है। सर्वत्र एकत्वदर्शन से होनेवाला आनन्दमयकोश का आनन्द तो सर्वाधिक सत्यता को लिये हुए है। ये सब आनन्द अध्यात्म आनन्द हैं। इनके अतिरिक्त बाह्य आनन्द भी अपने स्थान में बड़ें महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु ने खाने के लिए अद्भुत कन्दमूल तथा फल उपजाये हैं, सभी में एक विचित्र स्वाद है। परस्पर मिलकर बैठने में मित्रता का आनन्द आता है। धन की भी एक गर्मी व उत्साह होता ही है। ५. इन सब आनन्दों का अनुभव जीव तभी कर पाता है जब वह अपने में उत्पन्न होनेवाले इस अन्धस् की रक्षा करता है। यह अन्धस् अन्न का सप्तम स्थान में सार होने से कितना महत्त्वपूर्ण है। अन्न का सार रस, रस का रुधिर, रुधिर का मांस, मांस का अस्थि, अस्थि का मज्जा, मज्जा का मेदस् और मेदस् का यह अन्धस्=सोम=वीर्य सार है। एवं, यह कितना अधिक आध्यायनीय है? इस सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही स्वास्थ्य आदि के आनन्द का अनुभव कर पाते हैं। यही प्राणों को सबल बनाता है, मन को निर्मल और बुद्धि को तीव्र। इस सोम की रक्षा से ही अन्त में हम तीव्र बुद्धि द्वारा उस सोम (प्रभु) का दर्शन करते हैं और एकत्व के अनुभव से परम आनन्द Supreme bliss का अनुभव करते हैं। ६. इस सोम से ही हम असुरों के दृढ़ निवास-स्थानों को छिन्न-भिन्न कर पाते हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान हैं। काम इन तीन स्थानों में अपने किले बनता है और हमारा शिकार करता

है। सोम की रक्षा के द्वारा हम असुरों के इन किलों को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। इन किलों को तोड़कर ही देव-मन्दिर की स्थापना होती है। महादेव जी त्रिपुरारि हैं। हम भी असुरों के इन तीन पुरों को तोड़कर महादेव के समान उत्तम दिव्य गुणोंवाले 'वामदेव' बन पाएँगे। इस वामदेव का सर्वमहान् कार्य यही है कि त्रिपुर का ध्वंस करके उसके स्थान में देव-मन्दिर का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें यह सोम दिया है, जिससे हम अपने जीवन में वास्तविक आनन्द का अनुभव कर पाएँ और इन्द्रियों, मन व बुद्धि को आसुरवृत्तियों का अधिष्ठान न बनने दें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सखा, जरिता, ऊतियुक्त

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः॥६॥

हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=समान ख्यानवाले, समान ज्ञानवाले **जरितॄणाम्**=स्तोताओं का **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा **अविता**=रक्षक **भवासि**=होते हैं। १. वे प्रभु रक्षक हैं। **अभि**=अन्दर और बहार दोनों स्थानों में वे प्रभु हमारी रक्षा कर रहे हैं। मातृगर्भ में भी उन्होंने किस सुन्दरता से हमारे निर्माण व धारण की व्यवस्था की और हमारे बाहर आने पर भी उस व्यवस्था में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पहले मातृस्तनों से दूध मिल जाता है, फिर फल-मूल, कन्दों के रूप में सब भोजन प्राप्त हो जाता है। २. इस रक्षा की व्यवस्था से उत्तम व्यवस्था की कल्पना सम्भव नहीं है। सूर्यकिरणों से समुद्र जल का अन्तरिक्ष में पहुँचना और बादलों के रूप में होकर उसका फिर से पर्वत-शिखरों पर पहुँच जाना कितना महान् चमत्कार है! इस अद्भुत कार्य के द्वारा वे प्रभु कितनी उत्तमता से हमारे प्राणों की रक्षा कर रहे हैं। दिन-रात तथा ऋतुओं के चक्र द्वारा यह रक्षा कितनी उत्तमता से हो रही है। ३. प्रभु रक्षक हैं, परन्तु किनके? (क) **सखीनाम्**=समान ख्यान व ज्ञानवालों के। जो ज्ञानी बनते हैं, प्रभु के बनाये पदार्थ उन्हीं के लिए हितकर होते हैं। बिना ज्ञान के वे पदार्थ कल्याण के स्थान में अकल्याण के हेतु हो जाते हैं। ज्ञान विष को भी अमृत बना देता है तो अज्ञान अमृत को भी विष कर देता है। (ख) **जरितॄणाम्**=स्तोताओं की आप रक्षा करते हो। प्रभु का उपासक सदा जीवन के लक्ष्य को देखता है और इसी कारण उस लक्ष्य की ओर चलने से कल्याण प्राप्त करता है। लक्ष्यभ्रष्ट व्यक्ति का सारा जीवन असुरक्षित हो जाता है। (ग) प्रभु रक्षा तो करते हैं, परन्तु **ऊतिभिः**=क्रियाओं के द्वारा। यदि हम क्रियाशील होंगे तभी प्रभु की रक्षा के पात्र हो सकेंगे। अकर्मण्य व्यक्ति प्रभु की रक्षा का पात्र नहीं होता, एवं जो व्यक्ति अपने जीवन में 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' का समन्वय करता है, वही रक्षा का पात्र होता है। प्रभु की रक्षा ज्ञानी, भक्त व कर्मशील को ही प्राप्त होती है। ४. **शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त। मनुष्य ने सौ वर्षों तक जीवन का सङ्कल्प करके ही चलना है और सदा कर्ममय जीवन बिताना है। वैदिक परिभाषा में **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव ने सदा कर्ममय रहकर अपने 'शतक्रतु' नाम को सार्थक करना है। इस शतक्रतु के लिए प्रभु 'शतकृप' बने रहते हैं। सदा प्रभु की कृपा को प्राप्त करके यह अपने जीवन को पूर्ण सुरक्षित कर पाता है और आसुरवृत्तियों के आक्रमण से बचकर उत्तम दिव्य गुणोंवाला 'वामदेव' बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी, भक्त व क्रियामय जीवनवाले बनकर प्रभु-रक्षा के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**वर्द्धमानागायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का प्रवेश व प्रसाद

कया त्वं नऽऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्यऽआभर॥७॥

१. **वृषन्**=हे शक्तिशालिन्! हे सब सुखों के वर्षक प्रभो! जो निर्बल है वह तो दूसरे का कल्याण कर ही नहीं सकता। सबल होते हुए भी जिसे हमसे प्रेम नहीं वह हमारी सहायता नहीं करता। आप सबल भी हैं, जीव के प्रिय मित्र होने से सुखों की वर्षा करनेवाले भी। हे वृषन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **कया ऊत्या**=(अव्=प्रवेश) कल्याणकारक प्रवेश से **अभिप्रमन्दसे**=आनन्दित व हर्षित करते हो। जैसे एक छोटा बच्चा पिताजी के घर आने पर प्रसन्न होता है, इसी प्रकार प्रभुभक्त प्रभु के हृदय में प्रवेश करने पर आह्लाद का अनुभव करता है। २. प्रभु के प्रवेश से हममें दिव्यता का पोषण होता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **कया** (ऊत्या)=इस आनन्ददायक प्रवेश से और इसके द्वारा दिव्यांश के दोहन से **स्तोतृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **आभर**=दिव्यता को धारण कीजिए। आपके स्तोताओं का जीवन दिव्यता से भर जाए। स्तोता 'दध्यङ्' है, प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह सांसारिक विषयों के प्रति डाँवाँडोल मनोवृत्तिवाला न होने के कारण 'अथर्वण' है। यह 'दध्यङ्-आथर्वण' स्थिर मनोवृत्ति के कारण प्रकृति के पीछे नहीं भटकता, अतः प्रभु का ध्यान कर पाता है। इस ध्यान के परिणामरूप ही उसका जीवन अधिकाधिक दिव्यतावाला होता है। यह दिव्य जीवन वास्तविक प्रसाद व उल्लास को जन्म देता है।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें, जिससे प्रभु की दिव्यता को अपने में भरकर सदा उल्लासमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**द्विपाद्विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

एकशासन—विश्वशान्ति व विश्वनागरिकता

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥८॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, सब असुरों को दूर भगानेवाला प्रभु **विश्वस्य**=सारे ब्रह्माण्ड का तथा इस संसार में प्रविष्ट (विश्) सब प्राणियों का **राजति**=शासन व व्यवस्था करता है। जिस दिन हम प्रभु के अध्यात्मशासन का अनुभव करेंगे, उस दिन **नः**=हम **द्विपदे**= दो पाँवों से गति करनेवाले मनुष्यों के लिए **शम्**=शान्ति होगी तथा **चतुष्पदे शम्**=चौपयों, अर्थात् पशुओं के लिए भी शान्ति होगी। वस्तुतः इस अध्यात्मशासन में मनुष्यों के परस्पर संघर्ष का तो प्रश्न ही नहीं, पशुओं से उनका किसी प्रकार का द्वेष न होगा, अर्थात् सिंहादि पशु भी मनुष्य के साथ शान्ति से चलेंगे। वन्य न रहकर वे भी पालतू हो जाएँगे, चिड़िया घर की वस्तु हो जाएँगे। योगदर्शन का **'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** यह सूत्र स्थूलरूप धारण करता हुआ दृष्टिगोचर होगा, २. परन्तु इस अध्यात्मराज्य को ला वही व्यक्ति सकता है जो 'दध्यङ्'=प्रभु का ध्यान करनेवाला है, जो 'आथर्वण'=स्थिरवृत्ति का होने से सभी को समान राज्य में रहनेवाला अपना साथी समझता है।

भावार्थ—हम उस ईश के साम्राज्य का सर्वत्र अनुभव करें और सब प्राणियों के साथ शान्ति से चलने की मनोवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**मित्रादयो लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

साधनसप्तक

शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः शन्नो॑ भवत्वर्य॒मा।

शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः॥९॥

प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को मित्रादि सात नामों से स्मरण करके शान्ति-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है। भिन्न-भिन्न नामों से शान्ति की प्रार्थना का स्वारस्य इसमें है कि इन नामों के द्वारा शान्ति-प्राप्ति के सात साधनों का वर्णन हुआ है। १. सबसे प्रथम साधन 'मित्रः' शब्द से सूचित हो रहा है। **मित्रः नः शम्**=मित्र नामक प्रभु हमें शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः जब हम परस्पर मित्रभाव से चलेंगे तभी शान्ति प्राप्त होगी। स्नेह के अभाव में शान्ति का प्रश्न ही नहीं। ईर्ष्या-द्वेष हमें सदा सन्तप्त किये रहते हैं। इनसे हम जलते रहते हैं। २. **वरुणः शम्**=वरुण हमें शान्ति दे। 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'=श्रेष्ठ बनना ही शान्ति देनेवाला है। श्रेष्ठ वह है जो न दबता है, न दबाता है, न खुशामद करता है, न कराता है। कभी बदले की भावना से आन्दोलित नहीं होता। ३. **अर्यमा नः शम् भवतु**=अर्यमा हमें शान्ति दे। 'आर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'=अर्यमा देनेवाला है। प्रभु निरपेक्ष (Absolute) अर्यमा है। हम भी देने की वृत्तिवाले बनें, हमारे जीवनों में भी शान्ति होगी। दान हमें धन के बन्धन से ऊपर उठा शान्ति प्राप्त कराता है। ४. **इन्द्रः नः शम्**=इन्द्र नामक प्रभु हमें शान्ति दे। इन्द्र बनकर हम भी शान्ति-लाभ कर सकेंगे। इन्द्र असुरों का संहार करनेवाला है। आसुरवृत्तियों का संहार करके ही हम शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। इन्द्र वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यही शान्त होता है, इन्द्रियों का गुलाम वासना-समुद्र में डूब जाता है। ५. **बृहस्पतिः नः शम्**=बृहस्पति हमें शान्ति दे। बृहस्पति 'ब्रह्मणस्पति' है, वेदज्ञान का स्वामी है। ज्ञान के अनुपात में ही हमारे जीवन शान्त होते हैं। ६. **विष्णुः नः शम्**=विष्णु हमें शान्ति दे। 'विष् व्याप्तौ' से बना हुआ विष्णु शब्द व्यापक मनोवृत्ति का संकेत कर रहा है। जितना हमारा हृदय विशाल होगा उतना ही शान्त होगा। संकुचित हृदय औरों के उत्कर्ष को देखकर जला करता है, उसमें शान्ति का अवकाश नहीं। ७. **उरुक्रमः**=(क) महान् पराक्रमवाला प्रभु हमें शान्ति दे। अकर्मण्य व्यक्ति के जीवन में मालिन्य भर जाता है और वह शान्त नहीं हो पाता (ख) 'उरुक्रम' का अर्थ महान् व्यवस्थावाला भी है। व्यवस्थित जीवन सदा शान्त होता है। घर में वस्तुएँ अव्यवस्थित-सी पड़ी हों तो उठने-बैठने को भी जी नहीं करता। नियम या व्यवस्था शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—मित्रादि सात साधनों से सच्ची शान्ति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**वातादयः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

वायु, सूर्य व पर्जन्य

शन्नो॒ वात॑ः पव॒ता॒ꣳ शन्न॑स्तपतु॒ सूर्य॑ः।

शन्न॒ः कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ऽअ॒भि व॑र्षतु॥१०॥

नः=हमारे लिए **वातः**=वायु **शम्**=शान्तिकर होकर **पवताम्**=बहे, **नः**=हमारे लिए **सूर्यः**=सूर्य **शम्**=शान्तिवाला होकर **तपतु**=तपे। **नः**=हमारे लिए **कनिक्रदत्**=गर्जना करता हुआ **देवः**=दिव्य गुणोंवाला **पर्जन्यः**=बादल **शम्**=शान्तिवाला होता हुआ **अभिवर्षतु**=बरसे। मन्त्र में उल्लिखित शब्दों के द्वारा संसार की सर्वमहान् घटना का उल्लेख हुआ है।

घटनाचक्र का नाम ही संसार है। प्रत्येक घटना अपना-अपना महत्त्व रखती है। सर्वमहान् घटना यह वर्षण की घटना ही है। इसमें त्रिलोकी के तीनों लोक ही भाग लेते हैं। द्युलोक का सूर्य तपता है और इस ताप से पृथिवीलोक के जल का वाष्पीकरण होता है। यह वाष्पीभूत जल अन्तरिक्ष में घनीभूत होकर बादल के रूप में परिणत होकर पर्वत-शिखरों पर वर्षता है। इस प्रकार समुद्र का जल पर्वत-मस्तक पर पहुँच जाता है और वहाँ से प्रवाहित होकर नदियों के रूप में फिर से समुद्र की ओर जाना प्रारम्भ होता है। एवं, एक चक्र की स्थापना होती है। समुद्र का जल फिर समुद्र में आ मिलता है। यदि यह घटना न होती तो इस भूमण्डल पर जीवन सम्भव न रहता। ये ही देवता अध्यात्म में भी भिन्न-भिन्न रूपों से कार्य कर रहे हैं। वायु अध्यात्म में प्राण है। इस प्राण की साधना के लिए प्राणायाम का विधान है। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**=प्राणायास से क्या शरीर, क्या मन व क्या बुद्धि सभी के दोष दग्ध हो जाते हैं। ये दोष दग्ध होकर शरीर स्वस्थ हो जाता है, मन प्रसन्न व बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्माति-सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करने में समर्थ हो जाती हैं। एवं, शरीर में वायु का महत्त्व है ही। सूर्य शरीर में चक्षुरूप से रह रहा है। इस चक्षु को निर्दोष रखने के लिए भी प्राणसाधना आवश्यक ही है। ज्ञान-सूर्य का उदय होने पर हृदयान्तरिक्ष में करुणा का मेघ उठता है। ज्ञानी का हृदय अवश्य ही करुणापूर्ण होता है। यह परातृप्ति की जनक होने से सचमुच 'पर्जन्य' है। इसे 'कनिक्रदत्' इसलिए कहा गया है कि दयार्द्र हृदय में ही प्रभु की वाणी सुनाई पड़ती है, पाषाण हृदय में प्रभु की गर्जना नहीं सुन पड़ती। एवं, हम प्राणसाधना को महत्त्व दें। इससे हमारी ज्ञानचक्षु भी खुलेगी और हृदय में दया के मेघ की भी उत्पत्ति होगी। कितना दिव्य व शान्त होगा उस दिन हमारा जीवन!

भावार्थ—वशीभूत प्राण, देदीप्यमान ज्ञानचक्षु तथा हृदयस्थ करुणा की भावना हमें शान्ति प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**लिङ्गोक्ताः**। छन्दः—**अतिशक्वरी**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

चातुर्वर्ण्यम्

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳरात्री॒: प्रति॑धीयताम्।
शन्न॑ऽइन्द्रा॒ग्नी भ॑वता॒मवो॑भिः॒ शन्न॑ऽइन्द्रा॒वरु॑णा रा॒तह॑व्या।
शन्न॑ऽइन्द्रापू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॒सोमा॑ सु॒वि॒ताय॒ शंयोः॥११॥

१. **अहानि**=दिन **नः**=हमारे लिए **शम् भवन्तु**=शान्तिकारक हों। **रात्रीः**=रात्रियाँ **शम्**=शान्तिकारक होकर **प्रतिधीयताम्**=धारण की जाएँ। दिन और रात दोनों हमारे लिए शान्तिकर हों। दिन 'अहन्' है, अ+हन्=न नष्ट करने योग्य है। दिन का एक-एक क्षण हमारे लिए क्रियामय होना चाहिए। रात्रि 'रमयित्री' है, आराम देनेवाली है। 'दिन में कार्य, रात्रि को आराम' यह हमारा जीवनसूत्र होना चाहिए तभी हमारा स्वास्थ्य ठीक रहकर जीवन शान्त होगा। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **अवोभिः** (अव्=दीप्ति) ज्ञान की दीप्तियों से **नः**=हमारे लिए **शम् भवताम्**=शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रावरुणा**=इन्द्र और वरुण **रातहव्या**=हव्यों को, आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले होकर **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें। **इन्द्रापूषणा**=इन्द्र और पूषा **वाजसातौ**=अन्न-प्राप्ति के निमित्त **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **इन्द्रासोमा**=इन्द्र और सोम **सुविताय**=(सु इताय) सुगमता से कार्य सञ्चालन के

लिए होकर **शम्**=शान्ति दें और **शंयोः**=हमारे जीवनों में शान्ति हो तथा भयों का यावन, दूरीकरण हो। ३. उल्लिखित मन्त्रार्थ में **'अग्नि'** ब्राह्मण है। समाज व राष्ट्र में यह ज्ञान की दीप्ति को फैलाता है और इस प्रकार सामाजिक शान्ति का कारण बनता है। यह ज्ञान मनुष्यों को मिलकर चलना सिखाता है, ४. **'वरुण'**=क्षत्रिय हैं, राजपुरुष हैं, राजा की रक्षा के लिए इनका वरण होता है और ये प्रजाओं का उत्पथ पर जाने से निवारण करते हैं। वरण किये जाने व निवारण करने से ही ये 'वरुण' कहलाते हैं। इनका मुख्य कार्य यह होता है कि ये राष्ट्र में इस प्रकार की व्यवस्था करें कि प्रत्येक व्यक्ति को हव्य-पदार्थ प्राप्त होते रहें। शरीर-रक्षा के लिए जिन पदार्थों की आहुति देनी आवश्यक है वे 'हव्य' हैं। ५. **'पूषन्'**=वैश्य हैं ये **वाजसाति**=अन्न प्राप्त करानेवाले हैं। 'कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य' ये वैश्यों का व्यापार है। अन्न का उत्पादन इन्होंने ही कराना है। गोरक्षा और अन्न को मण्डियों में पहुँचाना—ये सब वैश्यों के कार्य हैं। इनमें कमी आते ही सारे राष्ट्र में अशान्ति छा जाती है। ६. इसके बाद **'सोम'** शूद्र हैं। ये अत्यन्त विनीत होकर 'ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों' के लिए उनके कार्यों में सहायक होते हैं। इनके बिना कोई भी कार्य सुगमता से नहीं चलता। इन्हीं शूद्रों में मेहतर भी हैं, जिनके कार्य के अभाव में मल-दुर्गन्ध व रोगकृमियों की वृद्धि होकर बीमारियों का प्रकोप हो जाता है। एवं, ये सोम **योः**=रोगों को दूर करने में सहायक होते हैं। ७. इन 'अग्नि, वरुण, पूषन् व सोम' के साथ 'इन्द्र' शब्द जुड़ा हुआ है। यह राजा व राजशक्ति का वाचक है। यह अग्नि इत्यादि अपना-अपना कार्य तभी कर सकते हैं जबकि इनमें राजशक्ति कार्य करे। राजशक्ति के बिना 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कोई भी कार्य नहीं कर सकता। राजशक्ति के द्वारा ही शिक्षणालय, प्रबन्ध, कृषि, व्यापार व श्रम आदि सब ठीक चलते हैं और सर्वत्र शान्ति का प्रसार होता है।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मणादि अपने-अपने कार्यों को राजव्यवस्था द्वारा ठीक-ठीक करनेवाले हों, जिससे सर्वत्र शान्ति का विस्तार हो। लोगों के जीवन का सूत्र 'दिन में कार्य व रात में आराम हो'।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल व स्वास्थ्य

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शँयो॒र॒भिस्र॑वन्तु नः॥१२॥

१. **आपः** शब्द सर्वव्यापक (आप्=व्याप्तौ) प्रभु के लिए भी प्रयुक्त होता है। ये दिव्य गुणोंवाले प्रभु (देवीः) **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले **अभिष्टये**=इष्ट प्राप्ति के लिए तथा **पतिये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। ये प्रभु **शंयोः**=शान्ति देनेवाले तथा मलों को दूर करनेवाले **नः**=हमारे **अभि** =दोनों ओर अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=गतिवाले हों। इस प्रकार मन्त्र का यह अर्थ प्रभुपरक है। जब **'आपः'** शब्द जलवाचक होकर प्रयुक्त होता है तब मन्त्रार्थ निम्न प्रकार से होता है। २. **देवीः आपः**=दिव्य गुणोंवाले जल **नः**=हमें **शम्**=शान्ति देनेवाल हों। **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिए और **पीतये**=रक्षा के लिए **भवन्तु**=हों। **शंयोः**=शान्ति को देनेवाले तथा रोगों को दूर करनेवाले ये जल **नः**=हमारे **अभि**=अन्दर व बाहर **स्रवन्तु**=बहें। ३. जलों के अन्दर अद्भुत दिव्यगुण हैं। ये सब रोगों को दूर करनेवाले हैं। **'आपः सर्वस्य मेषजीः'**=जल सब रोगों के औषध हैं। **'अप्सु मे सोमो अब्रवीत्, अन्तः विश्वानि भेषजा'**=मुझे सोम ने यह बतलाया है कि जलों में सब औषध हैं। जलों का नाम ही 'भेषजम्' है। ये वारि हैं **निवारयन्ति रोगान्**=रोगों को दूर करते हैं। ४. ये जल

आपः=व्यापक हैं। प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता है। प्राण के साथ इनकी सत्ता अनिवार्य है। प्राण अपोमय ही हैं। ५. ये रोगों पर आक्रमण के लिए होकर हमारी मृत्यु से रक्षा करते हैं। जल के प्रयोग से जलचिकित्सक रोगमात्र को दूर कर देता है। ६. इनका अन्दर व बाहर प्रयोग हमारे लिए शान्तिकर हो। 'अन्दर के लिए गरम व बाहर के लिए ठण्डा' यह सामान्य नियम है, जिसकी सामान्यतः मनुष्य सदा अवहेलना करता है, हम पीने में बर्फ का प्रयोग करते हैं, स्नान के लिए पानी को गरम करते हैं। ये दोनों ही बातें हानिकर हैं।

भावार्थ—जलों के ठीक प्रयोग से हम स्वस्थ बनकर शान्ति-लाभ करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**पृथिवी**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

खुले मकान, खुले कमरे, सुखदा पृथिवीमाता

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः॥१३॥

१. हे **पृथिवि**=विस्तारवाली भूमिमातः! **नः**=हमारे लिए **स्योना**=सुखदा **भव**=हो। यहाँ 'प्रथ विस्तारे' धातु से बने 'पृथिवी' शब्द का प्रयोग संकेत कर रहा है कि जितना विस्तृत व खुला हमारा निवासस्थान होगा उतना ही वह हमारे स्वास्थ्य आदि के लिए हितकर होगा। २. हे पृथिवि! तू **अनृक्षरा**=(ऋक्षर=कण्टक) कण्टकरहित हो। हमारे ग्रामों के मार्ग कण्टकादि की बाधा से रहित होने ही चाहिएँ तथा 'अनृक्षरा'=यह पृथिवी मनुष्यों का विनाश करनेवाली न हो। (क) विषम गर्तों से युक्त प्रदेश पानी के खड़े हो जाने से व मच्छरों की उत्पादक भूमियाँ बन जाने से स्वास्थ्य के लिए कभी हितकर नहीं हो सकता। (ख) वृक्षों की कमीवाला प्रदेश भी अम्लजन की मात्रा की कमी के कारण स्वास्थ्यप्रद नहीं होता। (ग) किसी ग्राम में टी०बी० के अधिक बीमारों के कारण यह बीमारी औरों को भी दबा सकती है, वह स्थान मनुष्यों का नाशक होने से रहने योग्य नहीं रहता। ३. **निवेशनी**=हे पृथिवि! तू विशाल निवासोंवाली हो। मकानों के कमरों का खुला होना भी आवश्यक है। छोटे-छोटे कमरे हमारे स्वास्थ्य को ही ख़राब नहीं करते ये हमारे दिलों को भी छोटा बनाते हैं। ४. **सप्रथाः**=अत्यन्त विस्तार-सहित भूमिमातः! तू **नः**=हमारे लिए **शर्म**=सुख **यच्छ**=दे। यह खुलापन स्वास्थ्य के लिए हितकर होकर हमें सुखी बनाता है। तङ्ग स्थानों में सूर्यकिरणों का प्रवेश न होने से बीमारियों का प्रवेश हो जाता है। स्वास्थ्यप्रद वायु भी उन मकानों को पवित्र नहीं कर पाती। ५. यहाँ प्रारम्भ में 'पृथिवी' शब्द है और समाप्ति पर 'सप्रथाः'। एवं, सर्व महत्त्वपूर्ण बात तो विस्तार की है। ये शब्द यदि मकानों के खुले-खुले बने होने का संकेत कर रहे हैं तो 'निवेशनी' शब्द मकान के कमरों के भी खुलेपन पर बल दे रहा है। इन खुले मकानों में ही मस्तिष्क का ठीक विकास होता है और मनुष्य बुद्धि को बढ़ाता हुआ अपने 'मेधातिथि' नाम को सार्थक करता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे मकान खुले-खुले स्थानों में हो। मकानों के कमरे भी बड़े खुले-खुले हों।

नोट—वेद में ग्रामों का उल्लेख है, बड़े-बड़े नगर वेद को प्रिय नहीं। खुलापन ग्राम-सभ्यता में अधिक सम्भव है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

कल्याणकर जल

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥१४॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=(मी हिंसायाम्) रोगों के नाश के द्वारा कल्याण करनेवाले **ष्ठाः** (स्था)=हैं। जल रोगों को दूर करके कल्याण प्राप्त कराते हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=(ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। इन जलों से हमारा बल तो बढ़ता ही है, प्राणशक्ति की भी वृद्धि होती है। वस्तुतः 'आपोमयाः प्राणाः'=प्राण तो हैं ही जलरूप। 'आपः रेतो भूत्वा'=जल ही रेतस् रूप से शरीर में रहते हैं। ३. **महे**=ये जल **महस्**=तेज के लिए हमें धारित करें। जल नीरोगता के द्वारा हमें तेजस्वी बनाते हैं अथवा **मह**=महत्त्व के लिए, भार के लिए धारण करें। जल से शरीर पतला-दुबला न रहकर उचित स्थूलता को प्राप्त करता है। ४. **रणाय**=(रमणीयतायै) जल हमें नीरोग बनाते हैं, तेजस्वी बनाते हैं, इस प्रकार ये जल हमें रमणीयता के लिए धारण करते हैं। इनसे हमें स्वास्थ्य का सौन्दर्य प्राप्त होता है। 'रणाय' शब्द 'रण शब्दे' धातु से बनकर इस भावना को भी व्यक्त करता है कि ये जल हमारी वाणी की शक्ति को बढ़ाते हैं। इनके उचित प्रयोग से संभवतः गूँगेपन की चिकित्सा भी सम्भव हो। ५. **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। 'जल आँखों की शक्ति को बढ़ाते हैं' इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। शुद्ध जल से परिपूर्ण बालटी में आधे सिर को डालकर आँखों को उसमें खोलने से दृष्टिशक्ति की निश्चय से वृद्धि होती है।

भावार्थ—जल नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व, रमणीयता व वाक्शक्ति तथा दृष्टिशक्ति को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

जल-रस-सेवन—पीने का प्रकार

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥१५॥

१. इन मन्त्रों के ऋषि 'सिन्धुद्वीप' हैं। 'स्यन्दन्ते इति सिन्धवः'=बहने से जल 'सिन्धु' हैं। ये जल जिसके अन्दर व बाहर उपयुक्त हुए हैं, वह 'द्विर्गता आपो यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से 'द्वीप' है। यह सिन्धुद्वीप कहता है कि हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः रसः**=अत्यन्त कल्याणकर रस है **तस्य**=उसका **नः**=हमें **इह**=इस मानव-शरीर में **भाजयत**=सेवन कराइए। उसी प्रकार **इव**=जैसे **उशती**=हित चाहती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को दूध का सेवन कराती हैं। २. जल हमारे लिए उसी प्रकार हितकर हैं जैसे बच्चे के लिए माता। बच्चा जिस प्रकार मातृस्तन से दुग्ध का धीमे-धीमे पान करता है, इसी प्रकार हमें धीमे-धीमे जल का रस लेना है। ३. जैसे हाथी तो गन्ना खा जाता है, परन्तु मनुष्य गन्ने का रस लेता है इसी प्रकार हमें जल नहीं पी जाना अपितु जल का रस लेना है। 'कुल्ला करते जाएँ', थोड़ा-थोड़ा पानी अपने आप अन्दर जाएगा। यह जल के रस को लेना है। एकदम गिलास-का-गिलास पेट में नहीं उलट देना। बाहर भी वस्तुतः स्पञ्जिंग के ढंग से पानी का रस लेना है, बालटियाँ नहीं उलटाते चलना। हम सन्तरा नहीं खा जाते, उसका रस ही लेते हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत मन्त्र में जल के रस के सेवन का विधान है। जल को सदा धीमे-धीमे पीना ही हितकर है, इसी को आचमन करना कहते हैं, sipping न कि Drinking। आचमन के रूप में पिया हुआ जल रोगों का आचमन (चमु भक्षणे) कर जाता है। यह रस हमें नीरोगता व दीर्घायु प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम सदा जलों का सेवन आचमनरूप से करते हुए उनके रस का ग्रहण करें।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**। देवता—**आपः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

विकास व बन्ध्यत्व-निवृत्ति

तस्माऽअरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥१६॥

१. **वः तस्मा** (तस्मै)=हे जलो! आपके उस रस को हम **अरम्**=पर्याप्त रूप से **गमाम**=प्राप्त हों, **यस्य**=जिस रस के कारण (यस्य हेतोः) आप हमें **क्षयाय**=(क्षि=निवासगत्योः) निवास व गति के लिए **जिन्वथ**=प्रीणित करते हो, बढ़ाते हो। जलों में एक रस है, रस ही जलों का गुण है। यह रस रोगों को नष्ट कर शरीर में हमारे निवास को उत्तम बनाता है और हममें स्फूर्ति का सञ्चार करता है। हम नीरोग व बड़े क्रियाशील बने रहते हैं। २. **आपः**=हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथा च**=सब प्रकार से आविर्भूत, विकसित करते हो। आपके प्रयोग से हमारी सब शक्तियों का ठीक विकास होता है। 'जनयथा' शब्द का संकुचित अर्थ यह है कि जननशक्ति से युक्त करते हो। ये जल बन्ध्या को अबन्ध्या बना देते हैं। जैसे ये मरुभूमि को उर्वरा बना देते हैं, उसी प्रकार ये पुरुष व नारी को भी अबन्ध्यता प्राप्त कराते हैं। इनके शास्त्र-विहित प्रयोग से बन्ध्यात्व नष्ट हो जाता है। ये जल अन्य सब शक्तियों का विकास करते हुए बन्ध्यापन को भी दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—इस जल-रस सेवन से हम उत्तम निवासवाले हों, गतिशील हों और हमारी सब शक्तियों का विकास होकर हमारा बन्ध्यापन दूर हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिक्शक्वरी**। स्वरः—**धैवतः**॥

शान्ति-पाठ

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥१७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र 'शान्ति-पाठ' का मन्त्र कहलाता है। सब यज्ञ-कार्यों की समाप्ति पर इस मन्त्र का पाठ किया जाता है। प्रारम्भ में लोकत्रयी से शान्ति की याचना इस प्रकार है—**द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो, **अन्तरिक्षम् शान्तिः**=अन्तरिक्ष शान्ति दे और **पृथिवी शान्तिः**=पृथिवीलोक शान्ति प्राप्त कराए। तीनों ही लोक हमारे साथ शान्ति में हो, हमारी इनसे प्रतिकूलता न हो। द्युलोक का सूर्य शान्ति-कर होकर तपे, अन्तरिक्षलोक का पर्जन्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि का कारण न बनता हुआ हमें शान्ति दे और यह दृढ़ पृथिवीलोक हमारा धारण करनेवाला हो। अध्यात्म में ये ही तीनों लोक क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञान के सूर्य से चमकता हुआ हमें शान्ति दे, हमारा हृदय करुणा के पर्जन्य से युक्त हुआ-हुआ हमारे स्वभाव को शान्त बनाये तथा यह हमारा पृथिवीरूप शरीर अत्यन्त दृढ़ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि सच्ची शान्ति के लिए दीप्तमस्तिष्क, करुणाद्र चित्त तथा दृढ़ शरीर की आवश्कयता है। २. **आपः शान्तिः**=जल हमें शान्ति दें। इस पृथिवी पर सर्वप्रथम तत्त्व जल ही है। ये नीरोगता के द्वारा हमें शान्ति देनेवाले हैं। ये जल ही शरीर में 'आपो रेतो भूत्वा'=वीर्यशक्ति के रूप में रहते हैं। यह वीर्य सब रोगों को कम्पित कर, दूर भगाकर हमें शान्ति प्राप्त कराता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न यह सोम सचमुच ही हमें 'सौम्य' बनाता है। ३. इन जलों से ओषधि-वनस्पतियों का जन्म होता है, अतः कहते हैं कि **ओषधयः**=ओषधियाँ **शान्तिः**=शान्ति दें। **वनस्पतयः शान्तिः**=

वनस्पतियाँ शान्ति दें। ओषधि व वनस्पति में यह अन्तर है कि ओषधियाँ फलपाकान्त होती हैं जबकि वनस्पतियाँ अगले-अगले वर्षों में भी फल देती हैं। सब अन्न ओषधि हैं और शाक-फल 'वनस्पति' हैं। अन्न ओषधि की भाँति ही प्रयुक्त होगा तो क्यों शान्ति न देगा? अन्न को क्षुधा-रोग का औषध समझना, तब यह औषधवत् मात्रा में प्रयुक्त हुआ-हुआ कल्याण ही करेगा। वनस्पतियाँ भी (वन=शरीर, पति=रक्षक) शरीर की रक्षक हैं। शरीर की रक्षा के उद्देश्य से ही इनका सेवन होना चाहिए। ओषधियाँ, वनस्पतियाँ अध्यात्म में 'लोम' हैं, ये लोम शरीर के रक्षक हैं। नासिका छिद्र के बाल श्वास के साथ धूल आदि को अन्दर नहीं जाने देते, एवं ये लोम शरीर की शान्ति के कारण बनते हैं। ४. **विश्वेदेवाः शान्तिः**=प्रकृति के ये सभी देव मुझे शान्ति देनेवाले हों, परन्तु ये शान्ति देनेवाले तभी होंगे जब मुझे इनका ज्ञान होगा, अतः अगली प्रार्थना करते हैं—**ब्रह्म शान्तिः**=ज्ञान मुझे शान्ति दे। जिस पदार्थ के गुण-धर्म का ज्ञान नहीं होता वही हानिप्रद हो जाता है। प्रायः उसका ग़लत प्रयोग हो जाता है? इस ज्ञान को प्राप्त कर **सर्वम् शान्तिः**=सब पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों। ५. **शान्तिः एव शान्तिः**=शान्ति भी शान्ति ही हो। कहीं मेरी शान्ति अशान्ति का कारण न बन जाए। वस्तुतः शान्ति के लिए शरीर का अत्यन्त अशान्त, अर्थात् क्रियाशील होना आवश्यक है। सामने आग लगी हो और मैं शान्त बैठा हुआ हाथ-पैर न हिलाऊँ तो ऐसी शान्ति महान् अनर्थ का हेतु बन अशान्ति को ही पैदा करेगी। मेरे सामने कोई मेरे पिताजी से दुर्व्यहार करता है और मैं शान्त बैठा रहूँ, यह शान्ति मुझे पापभाक् बनाकर अशान्त ही करेगी। 'शरीर अधिक-से-अधिक अशान्त और मन पूर्ण शान्त' ऐसी शान्ति तो शान्ति है, परन्तु जिसमें 'शरीर शान्त है और मन अशान्त' वह शान्ति का आभास है, शान्ति नहीं। **सा शान्तिः**=वह सच्ची शान्ति **मा**=मुझे **एधि**=प्राप्त हो ६. इस प्रकार शान्त वातावरण में निवासवाला व्यक्ति ही ध्यान लगा सकता है और 'दध्यङ्' नामवाला बनता है। इसका मन विह्वल व डाँवाँडोल नहीं, अतः यह 'आथर्वण' है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देव मेरे अनुकूल हों, वे मेरे साथ शान्ति में हों। उनके ठीक ज्ञान से मेरा उनके साथ सम्बन्ध मधुर हो। मैं उनके प्रति आसक्त न होकर सदा उनका ठीक उपयोग करूँ।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिग्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

मित्र-दृष्टि

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥१८॥

१. **दृते**=हे विदारण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **दृंह**=दृढ़ बनाइए। किसी भी वस्तु को दृढ़ बनाने का प्रकार यही है कि उसकी कमियों का विदारण कर दिया जाए। हे प्रभो! आप मुझे भी, मेरी कमियों का विदारण करके दृढ़ बनाइए। जब कमियों को दूर करके हमारा जीवन कुछ अच्छा बनता है तब हम चाहते हैं कि—२. **सर्वाणि भूतानि**=सब भूत **मा**=मुझे **मित्रस्य चक्षुषा**=स्नेह की दृष्टि से **समीक्षन्ताम्**=देखें। ३. धीमे-धीमे इस इच्छावाला व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मेरी यह इच्छा तभी पूर्ण होगी जब **'अहम्'**=मैं **सर्वाणि भूतानि**=सब भूतों को **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=आँख से **समीक्षे**=देखूँगा। प्रेम पारस्परिक है, मैं प्रेम से देखूँगा तो लोग भी मुझे प्रेम से देखने लगेंगे और यह अनुभव करेंगे कि कल्याण तभी होगा जब हम **मित्रस्य**=मित्र की **चक्षुषा**=दृष्टि से **समीक्षामहे**=देखेंगे। 'सभी

प्रेम से देखने लगें' समाज का कल्याण इसी में है। मानव-समाज की सबसे बड़ी कमी परस्पर स्नेह का न होना ही है। स्नेह ही समाज को दृढ़ बनाता है। इसका अभाव समाज को तोड़-फोड़ देता है। प्रभु का ध्यान करनेवाला 'दध्यङ्' सभी में प्रभु का दर्शन करता है, अतः सभी से स्नेह करता है। यह इस 'स्नेह करने' के सिद्धान्त से कभी डगमगाता नहीं, यह 'आथर्वण' न विचलित होनेवाला होकर इसका पालन करता है।

भावार्थ—मैं सभी को प्रेम से देखूँ और सभी सबको प्रेम से देखें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

संदर्शन—संजीवन

दृते दृꣳह मा। ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासꣳ ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्॥१९॥

हे **दृते!**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **मा दृंह**=मुझे दृढ़ बनाइए। मेरी कमियों को दूर करके मेरे जीवन को सुदृढ़ कीजिए। मैं कमियों से बचा रहूँ इसके लिए मैं **ज्योक् ते**=सदा आपके **संदृशि**=सन्दर्शन में **जीव्यासम्**=जीवन धारण करूँ। (संदर्शनम्=संदृक्) और **ज्योक्**=सदा दीर्घकाल तक **ते संदृशि**=आपके संदर्शन में ही **जीव्यासम्**=जीऊँ। एक ही बात को दो बार कहना दृढ़ता के लिए होता है। प्रभु के संदर्शन में जीना अत्यन्त आवश्यक है। २. 'प्रभु मेरे समीप हैं, वे मेरे प्रत्येक कार्य को देख रहे हैं', इस भावना के उदित रहने से मैं कोई ग़लत कार्य नहीं करूँगा। मेरा जीवन कमियों से न भरे। २. साथ ही सर्वत्र प्रभु-दर्शन से हम परस्पर प्रेम से चलने का पाठ भी पढ़ेंगे। हमें परस्पर एक बन्धुत्व का भी अनुभव होगा। पिछले मन्त्र की प्रार्थना को जीवन में अनूदित करने के लिए प्रभु की आँख से ओझल न होना, अपने को उसकी आँख से ओझल न होने देना अत्यन्त आवश्यक है।

सदा प्रभु के संदर्शन में जीनेवाला व्यक्ति 'दध्यङ्' प्रभु का ध्यान करनेवाला है। यह धर्म के मार्ग से विचलित न होने के कारण 'आथर्वण' भी है। यह यही कह सकता है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

भावार्थ—मैं सदा प्रभु के संदर्शन में जीवन धारण करूँ, जिससे मेरा जीवन कमियों से न भरकर मैं सभी के साथ स्नेह कर सकूँ।

ऋषिः—**लोपामुद्रा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

रोग, लोभ व अज्ञान का लोप

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्तेऽअस्त्वर्चिषे।
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवो भव॥२०॥

गतमन्त्र में दीर्घकाल तक प्रभु के सन्दर्शन में जीवन-यापन का उल्लेख था। ये प्रभु से कहते हैं। **हरसे**=सब रोगों का हरण करनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संस्कृत में रोग का हरण करनेवाले वैद्य का नाम 'रोगहारी' है। वही 'हृ' धातु 'हरस्' शब्द में है। प्रभु के स्मरण से हम स्वादादि में नहीं फँसते, परिणामतः अधिक नहीं खाते और रोगों से बचे रहते हैं, एवं प्रभु सचमुच रोगों का हरण करनेवाले हैं। २. **शोचिषे**=(शुच् दीप्तौ) हमारे जीवनों को शुचि व दीप्त बनानेवाले **नमः**=आपके लिए नमस्कार है। प्रभु-स्मरण हमारे शरीरों को नीरोग बनाता है तो प्रभु-स्मरण से हमारे मन निर्मल व पवित्र होते हैं। प्रभु

के सान्निध्य में हम पाप थोड़े ही करेंगे? वासना स्मर' है, तो प्रभु 'स्मरहर' हैं। जहाँ प्रभु-स्मरण होता है वहाँ वासना का विनाश हो जाता है। ३. **अर्चिषे**=हमें ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान करनेवाले **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। प्रभु हमारे मस्तिष्कों को ज्ञान से दीप्त कर देते हैं। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत वे प्रभु ही हैं। ४. वह व्यक्ति जो प्रभुकृपा से शरीर से नीरोग, मन से पवित्र तथा मस्तिष्क से दीप्त बना है, वह अब चाहता है कि **ते**=तेरी **हेतयः**=ज्ञानदीप्तियाँ **अस्मत्**=हमसे प्रवाहित होकर **अन्यान्**=दूसरों को भी **तपन्तु**=दीप्ति प्राप्त कराएँ। हम आपसे प्राप्त इन ज्ञान की किरणों को औरों तक पहुँचाएँ। ५. ब्रह्मचर्याश्रम में हम प्रभु को 'हरस्' के रूप में स्मरण करें और सोमशक्ति की ऊर्ध्वगति करके सब **रोगों का हरण व लोप करनेवाले** बनें। गृहस्थ में हमारा स्मरणीय प्रभु 'शोचिष्' है। वह हमारे मनों को शुचि बनाता है। **'योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः'** (मनु)। धन की दृष्टि से शुचि व्यक्ति ही तो शुचि है। एवं, प्रभु-स्मरण हमारे मनों से **लोभ का लोप** करनेवाला हो। वानप्रस्थ में हमारा प्रभु 'अर्चिष्' हो जाता है। यह ज्ञान की ज्वाला से देदीप्यमान है। यह हमारे मस्तिष्क से अज्ञानान्धकार का लोप करता है। वानप्रस्थ तो **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**=सदा स्वाध्याय में लगा होता है। इसके बाद संन्यास में यह अपने आराम आदि का त्याग कर प्रजा के अज्ञानान्धकर को लुप्त करने में लगा है, एवं इसका नाम ही 'रोग, लोभ व अज्ञान' को लुप्त करने के कारण 'लोपा' हो गया है। इसका चित्त इस रोग, लोभ व अज्ञान को लुप्त करके बड़ा प्रसन्न है, अतः वह 'मुद्रा' है। यह 'लोपामुद्रा' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। ४. यह ऋषि प्रभु से प्रार्थना करता है कि **पावकः**=हे प्रभो! आप पवित्र करनेवाले हो। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भव**=होओ। 'लोपामुद्रा' अपने जीवन के निर्माण का ध्यान करता है और कल्याण के लिए याचना करता है।

भावार्थ—हमारे शरीर नीरोग हों, मन शुचि हों, मस्तिष्क उज्ज्वल हों। हम सर्वत्र ज्ञान का प्रकाश फैलाएँ। प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

'विद्युत्, स्तनयित्नु व भगवान्'

नमस्तेऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे॥२१॥

१. **विद्युते**=विशेषरूप से चमकनेवाले **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। वे प्रभु सर्वतो देदीप्यमान हैं, वे तो ज्योतिर्मय-ही-ज्योतिर्मय हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः) वे प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। हज़ारों सूर्यों के सामन उस प्रभु की आभा है। जीव की चमक सूर्य की चमक की भाँति अपनी चमक नहीं है। जीव का ज्ञान तो नैमित्तिक है। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा भी प्रकाशवाला होता है, इसी प्रकार प्रकार प्रभु की ज्योति प्राप्त करके जीव भी ज्योर्तिमय होता है। जब कभी सूर्य और चन्द्रमा के बीच में पृथिवी आ जाती है तब चन्द्रग्रहण हो जाता है, चन्द्रमा का उतना भाग चमकता नहीं। जीव को भी यह ब्रह्मज्योति इन पार्थिव भोगों के बीच में आ पड़ने से प्राप्त नहीं होती। पार्थिव भोग हटे, और जीव ज्ञानज्योति से जगमगा उठा। २. **स्तनयित्नवे ते नमः**=मेघ के समान गर्जना करनेवाले आपके लिए नमस्कार हो। प्रभु ज्ञान की ज्योति से परिपूर्ण तो हैं ही। वे उस ज्ञान का शब्दों में उच्चारण भी कर रहे हैं। धीमे-धीमे नहीं, मेघ की गर्जना के समान, परन्तु उस गर्जना को भी हम नहीं सुन पाते, क्योंकि हमारे मानस पटल के द्वार ही बन्द हो रहे हैं। मौज-मस्ती में, संसार के आमोद-प्रमोद में प्रभु की आवाज़ सुनाई नहीं देती। हम मौजों

से उपर उठेंगे, तो प्रभुदर्शन करेंगे, उनकी आवाज़ को सुनेंगे। भोज (Feast) में उसकी आवाज़ दब जाती है, भूख (fast) में स्पष्ट सुनाई पड़ती है। सुख-सम्पत्ति में "God is nowhere" लगता है, तो विपत्ति में 'God is now here' हो जाता है। सुख में हम प्रभु को भूल जाते हैं—दुःख में ही स्मरण होता है। ३. बीच के आवरण के हटते ही हम कह उठते हैं कि हे **भगवन्**=भगवाले प्रभो। **ते**=तेरे लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। 'भग' की इच्छा से हमें उस भगवान् के पास ही जाना होगा। भग का अभिप्राय 'ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य' है। मनुष्य अपनी प्रारम्भिक स्थिति में 'ऐश्वर्य व वीर्य' धन व शक्ति चाहता है, ज़रा ऊँचा उठने पर उसका ध्येय यश व श्री हो जाते हैं और अन्त में उसका झुकाव ज्ञान व वैराग्य की ओर जो जाता है। मनुष्य उन्नति की किसी भी स्थिति में हो वह इन ऐश्वर्यादि की प्राप्ति के लिए उस 'भगवान्' के पास ही जाएगा। ४. हे प्रभो! यह 'भग' वह है **यतः**=जिसके द्वारा **स्वः**=हमारे सुख को **समीहसे**=आप सम्यक्तया करना चाहते हैं। प्रारम्भ में ऐश्वर्य व वीर्य से ही जीवन-यात्रा चलती है। इनमें से किसी एक के भी आभाव में जीवन-यात्रा चलना सम्भव नहीं। मनुष्य इन्हें प्राप्त करके यश व श्री की कामनावाला होता है और अन्त में ज्ञान व वैराग्य में शान्ति-लाभ करता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन सुख से व्यतीत हो पाता है। वैराग्य की—अनासक्ति की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँचकर जीव सचमुच **दध्यङ् आथर्वण**=प्रभु का ध्यान करनेवाला निश्चल मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

भावार्थ=प्रभु विद्युत् है, स्तनयित्नु हैं, भगवान् हैं। भग को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**ईश्वरः**। छन्दः—**भुरिगुष्णिक्**। स्वरः—**ऋषभः**।

दैव व आसुर, प्रजा व प्रभु (Civil and Military)

यतो॑यतः स॒मीह॑से॒ ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरु।
शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः॒ प॒शुभ्यः॑॥२२॥

यतः यतः=जिस-जिस वस्तु से हे प्रभो! आप हमारा (स्वः) **समीहसे**=सुख करना चाहते हैं **ततः**=उस-उस वस्तु के द्वारा **नः**=हमें **अभयं कुरु**=निर्भय कीजिए। जीवन के प्रारम्भ में अर्थात् गृहस्थ में प्रभु 'ऐश्वर्य व शक्ति' के द्वारा हमारा कल्याण करते हैं, वानप्रस्थ में इसका स्थान 'यश व श्री' ले-लेते हैं, और संन्यास में 'ज्ञान और वैराग्य' उसके सम्बल होते हैं। गृहस्थ में ही ये ज्ञान और वैराग्य आ जाएँ तो गृहस्थ बिगड़ जाए और यदि संन्यास में अचानक ऐश्वर्य और शक्ति का विचार आ जाए तो वह संन्यास ही न रहे। एवं, प्रत्येक स्थिति में जिस-जिस गुण व द्रव्य से हे भगवन्! आप हमारा कल्याण चाहते हैं हमें उस-उस वस्तु के द्वारा निर्भय कीजिए।

२. (क) समाज में लोग दो भागों में बँटे हैं। एक दैव हैं, दूसरे आसुर। दैव लोग विकास व गुणों के प्रादुर्भाव के लिए प्रयत्नशील होते हैं। वैज्ञानिकों ने औषधों के आविष्कार से रोगों को दूर किया तो कृषि की उन्नति से अकाल को समाप्त कर दिया और इस प्रकार मनुष्य के प्रादुर्भाव व विकास में सहायक होने से 'प्रजा' कहलाये। इन्होंने एटम बम्ब आदि से संहार का भी पोषण किया, परन्तु वह तो सब राजनीतिज्ञों के दबाव के कारण ही हुआ। हे प्रभो! आप इन **प्रजाभ्यः**=विकास के कारणभूत दैववृत्तिवाले लोगों से **नः**= हमारे लिए **शम् कुरु**=शान्ति कीजिए। (ख) इनके विपरीत वे लोग भी हैं जो पशुओं की तरह बिलकुल स्वार्थी हैं, जिन्हें अपने से मतलब है, जिनको लोकहित का ज़रा भी

ध्यान नहीं। ये पशुओं की भाँति ही खूँखार हैं। हे प्रभो! इन **पशुभ्यः**=पशुओं से **नः**=हमें **अभयम्**=निर्भय कीजिए। राष्ट्र में एक सिविल विभाग होता है, यह शान्त स्वभाव का होता है, यही प्रजा के अन्दर शान्ति स्थापित करने का कार्य करता है। दूसरा मिलिटैरी का विभाग है, यह लड़ने के लिए तैयार किया जाता है। इसे नगरों से दूर ही रखते हैं, क्योंकि इनके नगरों के समीप आने पर नगरवासियों को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इनसे भी हमें अभय प्राप्त हो। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों को इनसे भय प्राप्त न हो।

भावार्थ—हम उस-उस समय 'ऐश्वर्य-शक्ति, यश-श्री, ज्ञान-वैराग्य' से सुख को प्राप्त करें। दैवी प्रवृत्ति के लोग हमारी शान्ति का कारण बनें और आसुर—पशुवृत्ति के लोगों से हमें भय प्राप्त न हो।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**विराडनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**।

दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च=भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः॥२३॥

१. मन्त्र का सरलार्थ इस प्रकार है—**आपः ओषधयः**=जल तथा ओषधियाँ, अर्थात् खान-पान की वस्तुएँ **नः**=हमारे लिए **सुमित्रिया**=उत्तम स्नेह करनेवाली (ञिमिदा स्नेहने) उत्तम मेदस् (Fat) को बढ़ानेवाले (मिद्=मेदस्) अथवा उत्तम औषध के गुणोंवाली (मिद्=Medicine) और इस प्रकार (मित्रः=प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु व रोगों से बचानेवाली **सन्तु**=हों, परन्तु **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके साथ **द्वेष्टि**=अप्रीति करता है, **च**=और परिणामतः **यम्**=जिसको **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=नहीं चाहते **तस्मै**=उसके लिए ये जल और ओषधियाँ **दुर्मित्रियाः**=न स्नेह करनेवाली हों, उन्हें ये रोगों से बचानेवाली न हों। २. प्रस्तुत मन्त्र में भोजन के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है कि 'भोजन सदा प्रसन्नता-पूर्वक खाना चाहिए'। मनुजी ने लिखा है कि भोजन सामने आये तो '**दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च**'=देखकर हर्षित और प्रसन्न हो। प्रसन्नतापूर्वक खाया हुआ भोजन हमारे शरीरों में रुधिरादि उत्तम धातुओं को पैदा करता है। द्वेष की भावना से भरा हुआ चित्त हो और पौष्टिक-से-पौष्टिक पदार्थ खाएँ, तो वे कभी हमारे शरीर का आप्यायन न करेंगे। वे भोजन हमारा पालन करनेवाले ही न होंगे। ऐसी स्थिति में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं जो भूख को भी समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—भोजन सदा प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। हमारा भोजन 'आपः ओषधयः' हैं, न कि मांस।

ऋषिः—**दध्यङ्ङाथर्वणः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

अदीनता

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥२४॥

१. **तत्**=वह **चक्षुः**=सब पदार्थों के तत्त्व का दर्शक वेदज्ञान, जो **देवहितम्**=देवों में निहित होता है और देवों के लिए हितकर होता है, जो **शुक्रम्**=(शुच् दीप्तौ) सर्वतः देदीप्यमान है—शुद्ध है—निर्भान्त है, वह वेदज्ञान **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **उच्चरत्**=उच्चारण

किया गया। **पुरस्तात्**=वेदज्ञान के सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जाने की आवश्यकता स्पष्ट है। मनुष्य का ज्ञान नैमित्तिक है–'यदि उसे ज्ञान न दिया जाए तो वह उसे स्वयं विकसित कर लेगा' ऐसी सम्भावना नहीं है। गूँगी-बहरी दासियों से वन में पाले गये बच्चे केवल मैं-मैं करना ही सीखे, क्योंकि उनके समीप बकरियाँ बँधी थी। वेद से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन दोनों तथ्यों से यही परिणाम प्राप्त होता है कि 'वेदज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में दिया गया'। **देवहितम्**=(क) प्रभु ने इस वेदज्ञान को देवों के हृदय में स्थापित किया। **'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्'** जो श्रेष्ठ व निर्दोष थे, उन्हीं के हृदयों में वेदज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ। (ख) यह वेदज्ञान देवों का ही हितकर होता है। जो इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं–उन्हीं देवों को इसका लाभ प्राप्त होता है। हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्ष-पर्यन्त **पश्येम**=इस वेदज्ञान को देखें। हम वेदों को पढ़ें, इनका नियमित स्वध्याय करें। **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **जीवेम**=इन वेदों को ही जीने का प्रयत्न करें, अर्थात् अपने जीवन को वेदानुसार बनाने के लिए यत्नशील हों। वेद को अपने जीवन में घटाने की कोशिश करना ही अपने जीवन को वेद पढ़ाना है। वेद को जीने का प्रयत्न करेंगे तभी लाभ होगा।

शरदः शतम्=सौ वर्षपर्यन्त **शृणुयाम**=हम इन वेदों को सुनें तथा **शरदः शतम्**=सौ वर्ष पर्यन्त इन वेदों का ही **प्रब्रवाम**=प्रवचन करें, अर्थात् वेदोपदेश ही सुनें और सुनाएँ। शुभ की कथा शुभ प्रभाव को उत्पन्न करेगी ही। आचार्य ने इन्हीं शब्दों को ध्यान में रखते हुए इसे परमधर्म माना कि वे वेद पढ़ें (पश्येम) पढ़ाएँ (जीवेम) सुनें (शृणुयाम) सुनाएँ (प्रब्रवाम) ३. इस प्रकार वेदज्ञान का हमारे जीवनों पर यह परिणाम हो कि हम **शरदः शतम्**=सौ-के-सौ वर्षपर्यन्त **अदीनाः स्याम**=अदीन हों। हममें हीनता की भावना न हो। हम कृपण व अनात्मज्ञ न हों। अपनी महिमा को अनुभव करें। व्यावहारिक जगत् में न दबें न दबायें, न खुशामद करें और न ही खुशामद पसन्द हों। **शरदः शतात् भूयः च**=सौ से अधिक वर्ष भी हमारे जीवन इसी प्रकार वेद के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में व्यतीत हों और हम अदीन बने रहें। हमें सच्ची शान्ति इसी प्रकार प्राप्त होगी। वेदज्ञान ही मौलिक शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ–प्रभु ने सृष्टि-आरम्भ में इस वेदज्ञान का उच्चारण किया है। हमें इसी के पढ़ने-पढ़ाने व सुनने-सुनाने में लग जाना चाहिए और सदा अदीनतापूर्वक वर्त्तना चाहिए।

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः॥